मृत्युञ्जय महावीर

(प्रबन्ध काव्य)

हरियाणा साहित्य अकादमी के
सहायतानुदान से प्रकाशित

सस्ता साहित्य भण्डार
अशोक विहार, 57-बी, पॉकेट-ए, फेज-2
दिल्ली-52

मृत्युञ्जय महावीर

निर्दोष हिसारी

प्रकाशक : लक्ष्मी नारायण शर्मा
सस्ता साहित्य भण्डार
57 बी, पाकेट ए,
फेज 2 अशोक विहार,
दिल्ली-52
प्रथम संस्करण : 1983
मूल्य : 25 रुपये
चित्रकार : सन्त
मुद्रक : श्री कम्पोजिंग केन्द्र द्वारा वदलिया प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-6

माँ

ओर पिता जी के

श्री चरणों में सादर

—निर्दोष

क्रम

प्राक्कथन

हरियाणा साहित्य अकादमी राज्य के लेखकों की साहित्यिक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने में कार्यरत है, हरियाणा के वे लेखक जो हिन्दी, उर्दू, पंजाबी या संस्कृत में साहित्य रचना करते हैं, उन्हें अपनी अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाशित करवाने के लिए आर्थिक सहायता दी जाती है, इसी योजना के अन्तर्गत श्री निर्दोष हिसारी की प्रस्तुत पुस्तक 'मृत्युन्जय' के प्रकाशन के लिए अकादमी द्वारा सहायतानुदान दिया गया है, भगवान महावीर के जीवन पर 10 सर्गों में लिखित प्रस्तुत पुस्तक एक खण्ड काव्य है जिसमें जीवन की विविध परिस्थितियों का चित्रण आकर्षक और कवित्वपूर्ण है, लेखक का प्रयास सराहनीय है। आशा है कि सुधी पाठक श्री निर्दोष हिसारी के काव्य का रसास्वादन करेंगे।

कृष्ण मधोक
निदेशक,
हरियाणा साहित्य अकादमी,
चण्डीगढ़

आशीर्वचन

पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के सन्दर्भ में भगवान महावीर का जीवन विविध विधाओं में जनता के सामने आ रहा है। 'मृत्युञ्जय महावीर' उसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

इस काव्य में कवि निर्दोष जी ने जिस ढंग से विषय को प्रस्तुत किया है वह अन्य कवियों में भी एक नई लहर पैदा करेगा, ऐसी आशा है।

—आचार्य तुलसी

ग्रीन हाउस,
जयपुर

समीक्षा

"अर्हम"

कवि निर्दोष जी का 'मृत्युन्जय महावीर' भगवान महावीर के जीवन पर प्रकाश डालने वाला एक 'लघु' किन्तु महाकाव्य है, क्यों कि इस काव्य के नायक भगवान महावीर का सर्वांगीण जीवन इस में अंकित है !

इस काव्य में महाकाव्योचित परम्परा का निर्वहन हुआ या नहीं, यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु काव्योचित गुणों की स्फुरण अविकल रूप से है ।

यह काव्य कला पक्ष, भाव पक्ष, और विचार पक्ष सभी दृष्टियों से समृद्ध है ।

कवि ने भगवान महावीर के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का विश्लेपण बड़े मार्मिक ढंग से किया है :

"क्या जन्म-मरण से आगे कोई राह नहीं जाती
क्या दैहिक सुख से आगे कोई चाह नहीं जाती
यदि जाती है सुभगे तो मेरी राह वही होगी
जिस से चाह शेप हों सब मेरी चाह वही होगी'

भगवान महावीर कालीन स्थिति का यथार्थ चित्रण कवि ने जिस सजीवता के साथ किया है, उसके लिए सचमुच ही कवि धन्यवाद का पात्र है :

'वर्धमान की निर्मल आँखें
देख रही थीं उस समाज को
उसके रिसते महाकोढ को
और कोढ में उठी खाज को।'

भावों का अनुबन्ध और भाषा का प्रवाह वस्तुतः प्रशंसनीय है पर कहीं-कहीं छन्दोभंगता या यतिभंगता का आभास होता है।

कवि जैन दर्शन की गहराई में जिस सीमा तक पैठा है, उस से उसके जैन न होने में संदेह उत्पन्न होता है। कोई जैनेतर व्यक्ति इस प्रकार जैन दर्शन की मौलिकता और सूक्ष्मता का संस्पर्श कर नहीं सकता।

परम्परा भेद का जहां तक प्रश्न है, वह बहुत नगण्य और औपचारिक तथ्य है। परम्परा हर काल, देश, धर्म, सम्प्रदाय की अपनी भिन्न होती है। एक कृति में सभी परम्पराओं को अक्षुण्ण रखना कठिन होता है किन्तु मौलिकता में कहीं कोई आँच नहीं आई और श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा का भेद जो आंशिक रूप में इसमें रहा है, वह भी उदार और व्यापक दृष्टिकोण से चिन्तन करने पर स्वतः विलीन हो जाता है।

पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में एक पूजा रत आत्मा का यह नैवेद्य सचमुच मानव के द्वारा मानवता का मूल्यांकन है। विश्ववत्सल भगवान महावीर के चरणों में कवि की यह विनम्र श्रद्धांजलि इस बात की प्रतीक है कि पूजा गुणों की होती है, व्यक्ति की नहीं।

—साध्वी मंजुला श्री

शुभाशीष

'मृत्युञ्जय महावीर' की
पाँण्डुलिपि मैंने देखी ।
महावीर के प्रति यह
एक श्रद्धायुक्त पुष्पांजलि है ।
इसी दृष्टि से इसे
पढ़ा जाना चाहिए ।

महावीर के जीवन-दर्शन के प्रति जिस प्रकार भी रुचि जगाई जा सके उसका स्वागत होना चाहिये ।

—वच्चन

द्वारा श्री अमिताभ वच्चन
20, प्रेसीडेंसी सोसायटी
नार्थ—साउथ रोड़-7
जुहू पार्ले स्कीम
वम्वई-400056

आत्म निवेदन

मैं कई वर्षों से अनेक प्रश्नों से जूझ रहा था—धर्म क्या है ? मानवता क्या है ? हमारी मौलिकता, हमारा स्वरूप क्या है ? प्रेम क्या है ? काम क्या है ? जीवन में हिंसा क्यों है, अशांति क्यों है ? अपने उपन्यास—व्याकुल लहरें—में भी इन प्रश्नों पर मैंने विचार किया था लेकिन उससे मेरा मानसिक आलोड़न पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ था ।

अपने चारों ओर व्यक्तियों के आचरण में कहीं-कहीं कुछ प्रश्नों के सनही और अधूरे—कभी-कभी भ्रामक—उत्तर भी पाता था । लेकिन अन्तिम और पूर्ण उत्तरों को पाने को व्याकुल मेरा मन उनसे कैसे संतुष्ट होता ? इसीलिए आरम्भ हुई मेरी यह यात्रा विराम जिसे मिला उस युग जिस में वर्तमान युग की विशेषताएँ लगभग ज्यों की त्यों विद्यमान रही थीं । वैचारिक अराजकता, धार्मिक पाखण्ड, झूठे व्यक्तित्वों के लबादे भोग विलास, आत्मवंचना और अशांति जो आज है वही कुछ परिवर्तित रूप में आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भी समाज की नियति बना हुआ था ऐसे भोग-निमग्न, ह्रासोन्मुख तथा जर्जरित परिवेश में किसी भी भाव-प्रवण प्राणी में उन प्रश्नों का उठना स्वाभाविक ही था जो आज के संदर्भ में मेरे मानस को आन्दोलित करते रहे हैं । उस युग में ऐसे दो दैदीप्यमान भाव प्रवण व्यक्तित्वों से मेरा मानस-मिलन हुआ । एक हैं करुणावतार बुद्ध तथा दूसरे अहिंसा के मूर्त रूप महावीर ।

मैंने जैन आगमों और बौद्ध ग्रन्थों का यथा योग्यता अध्ययन किया । मुझ पर महावीर के व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ा । उन की निर्भयता तथा कठोर साधना ने मुझे अभिभूत कर दिया । धीरे-धीरे मैं जैन दर्शन की गहराई में उतरा । हिन्दू धर्म की विविध शाखाओं-प्रशाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन भी किया । इस सबका पुरस्कार मुझे आन्तरिक उल्लास और मानसिक शांति के रूप में मिला । लेकिन मेरी समग्र जिज्ञासा और व्यग्रता का शमन महावीर के चिन्तन, दर्शन और व्यक्तित्व ने किया ।

जिस समय मैं अपने प्रश्नों के उत्तर खोज रहा था तब स्वप्न म भी मुझे यह विचार नहीं आया था कि मैं महावीर पर या जैन-दर्शन पर कुछ लिखूं या लिखूंगा। 1975 में जब महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी मनाई जा रही थी तब एक सज्जन जो यहां निर्वाण शताब्दी समारोह के मंत्री थे—मेरे पास यह अनुरोध ले कर आये कि मैं महावीर पर एक-दो कविताएँ लिखूं और उनके द्वारा आयोजित किये जाने वाले कवि सम्मेलन में सुनाऊँ। मैंने विनम्रतापूर्वक इंकार कर दिया क्योंकि मैं विवश था। मैंने कभी किसी आग्रह या अनुरोध पर नहीं लिखा है, लिख सकता ही नहीं। मैं तभी लिखता हूं जब मेरे भीतर से लिखने के लिए प्रबल प्रेरणा होती है। तब मैं क्या जानता था कि महावीर पर लिखे जाने के लिए मुझ में बहुत कुछ रचा जा रहा था। एक सुबह सो कर उठता हूं तो स्वयं को बेचैन पाता हूं। इस बेचैनी से मैं परिचित हूं, इसलिए समझ गया कि आज कुछ लिखा जाना है। क्या लिखा जाना है ? इसे मैं सदैव लिखे जाने के पश्चात ही जान पाता हूं। खैर, अपने अध्ययन कक्ष में आकर कागज-कलम उठाता हूं और अपने से भिन्न कहीं हो जाता हूं। उसी भावावस्था में लिखता रहता हूं। जब लिखना समाप्त हुआ और उसे सहजावस्था में पढ़ा तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह इस प्रबन्ध काव्य का प्रथम सर्ग था। फिर तो वह भाव दशा उस समय तक बनी रही जब तक कि 'मृत्युन्जय महावीर' का सृजन पूरा न हुआ। सृजन पूरा हुआ तो मुझे लगा कि मेरी अपूर्णता में कुछ कमी हुई है। रचनाकार के लिये यह कुछ कम संतोष की बात नहीं कि सृजन उसका परिष्कार करता है।

आइये अब एक दृष्टि महावीर के युग और उनके दर्शन पर डाल लें।

महावीर के युग को देखने के लिए किसी शक्तिशाली दूरबीन की आवश्यकता नहीं है। महावीर इतिहास-पुरुष थे, काल्पनिक या पौराणिक अस्तित्व नहीं थे। उस युग के इतिहास पर समय की धूल जमी तो है, किन्तु इतनी नहीं कि उसे हटा कर उस काल की वास्तविकता को न जाना जा सके। उस काल की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक परि-स्थितियों के अभिलेख हमें तत्कालीन इतिहास, काव्य, आगम-ग्रन्थ तथा अन्यान्य कृतियों में सुरक्षित मिलते हैं।

यद्यपि उस काल में गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली थी तथापि 'गण' का प्रभुत्व नगण्य था और राजपुरुष ही सर्वेसर्वा थे। छोटे-छोटे राज्य हुआ करते जिनमें राजसी-अहंकार की तुष्टि के लिए प्रायः ही युद्ध होते रहते थे। इन युद्धों के कारण जन-धन की विपुल हानि होती थी। जन जीवन विशृंखल रहता और जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं का अभाव हो जाता था। हर राज्य इसी ताक में रहता कि कब अवसर मिले और वह विरोधी राज्य को कुचल दे। स्थिति यह थी कि—

सबल मारता था दुर्बल को,
दुर्बल आगे दुर्बलतर को।
प्राणी था प्राणी का वैरी,
तकते रहते थे अवसर को॥

धार्मिक दृष्टि से भी वह काल अराजकता का काल कहा जा सकता है। विभिन्न धर्मों की अनेक धाराएं उस समय बह रही थीं। उच्च वर्ग ने धर्म को अपनी बपौती बनाया हुआ था। उनके लिए वह एक हथियार था जिससे वह धर्मभीरु प्रजा को दबाकर रखता था। धर्म का वास्तविक स्वरूप भुला दिया गया था और यांत्रिक क्रियाकाण्डों को प्रमुखता प्राप्त हो गई थी। देवों की प्रसन्नता और अमरत्व की कामना में लोग बलि देते थे। पशुबलि तो साधारण बात थी, अधिक धार्मिक बनने की झोंक में नरबलि भी दी जाती थी। तथाकथित धर्मगुरु जनता से अपना 'कर' वसूलते रहते और उसे अज्ञानान्धकार के गहरे कूप में धकेलते रहते। उनकी प्रत्येक बात को ब्रह्मवाक्य समझा जाता था—

धर्म बना था सर्वेसर्वा।
धर्म कि जिस में मर्म नहीं था
धर्मगुरु जो शिक्षा देते,
वैसा उनका कर्म नहीं था॥

उस काल के समाज में बहुत सी कुरीतियों का चलन था। जाति प्रथा के कारण समाज उच्च एवं नीच श्रेणियों में विभक्त था। बाल-विवाह

होते थे। द्यूत क्रीड़ा, मदिरापान, और आखेट करना सामन्तों के प्रिय व्यसन थे। सभी एक दूसरे का यथाशक्ति शोषण करते थे। नारी की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। कहने को तो वह अर्द्धांगिनी थी, पर वास्तव में— 'दिन को दासी निशि को भोग्या' ही थी। दास प्रथा का भी प्रचलन था। क्रीत दासों की स्थिति तो पशुओं से भी गई बीती थी। स्वामी छोटी-छोटी भूलों पर उन्हें कठोर दण्ड देते थे। ये देहदण्ड तो दासों पर स्वामियों की कृपा होती थी, क्योंकि वे चाहते तो मृत्यु दण्ड भी दे सकते थे. चम्पा नरेश की राजकुमारी चन्दन बाला को बाजार में खुले आम नीलाम करके बेचा गया था। जब उसकी सुन्दरता उसकी स्वामिनी के लिए ईर्ष्या का कारण बनी तो उसने 'नाई को बुलवा कर उस की केशराशि को कटवा दिया था और उसके पैर बंधवा कर उसे तलघर में बन्द करवा दिया'।[1]

"चीजों सम बिकते थे मानव,
मानव का कुछ मोल नहीं था।
मूक ढोर से जीवन ढोते,
उनके मुख में बोल नहीं था।।

राजाओं को अपनी ऐय्याशी और निरन्तर होते रहने वाले युद्धों के लिए हर समय धन की आवश्यकता रहती थी। जन-साधारण ही धन। सरिता का उद्गम होता है अतः आए दिन उन पर कर लगाए जाते उत्पादन कम होता था, क्योंकि राजनैतिक स्थिति अस्थिर रहती थी। इसलिए "कुछ जन मौज उड़ाया करते, बहुजन थे पर भूखे मरते। राजा लोग अपनी अनावश्यक आवश्यकताओं में व्यस्त रहते थे। उन्हें प्रजा के सुख-दुख की ओर ध्यान देने का अवकाश ही कहां मिलता था। उन की चिन्ता केवल यह थी, आय अधिक हो, अधिक आय हो। राज कर्मचारी स्वामी की इस चिन्ता को दूर करने के लिए दुखी प्रजा की अल्प आय पर 'कर' कुछ और लगा देते थे।

महावीर स्वयं राजपुरुष थे। उनका परिवेश इन सभी दुर्बलताओं और हीनताओं का परिवेश था। वह उदारमना और चिन्तनशील प्राणी

1. चौबीस तीर्थंकर, पृष्ठ 112, लेखक—डाक्टर गोकुल चन्द्र जैन।

थे। वह मानवीय गरिमा के पतन पर चिन्तित थे। एक ओर वह हिंसा, रक्तपात, शोषण, दास-पीड़ा और भूख को देखते, दूसरी ओर राजमहलों में होने वाले भव्य आयोजनों को देखते जिनमें धन प्रदर्शन की कुत्सितता अपने चरम बिन्दु पर पहुंच जाती थी। उन्हें मानव जीवन के इस विरोधाभास पर अत्यन्त दुःख होता था। मानवीय मौलिकता लुप्त हो गई थी और मनुजता विकलांग थी। वह तत्कालीन धर्म को देखकर उदास हो जाते। बड़े बड़े यज्ञों का आयोजन किया जाता था जिन में विपुल खाद्य—सामग्री जला दी जाती थी। सभी दृष्टियों से वह समाज एक रुग्ण समाज' था और—

वर्द्धमान की निर्मल आंखें,
देख रही थीं, उस समाज को।
उसके रिसते महाकोढ़ को,
और कोढ़ में उठी खाज को।

हर ओर व्याकुलता थी। ऐश्वर्य में डूबे राजपुरुष और सामंत भी अपने-अपने कारणों से व्याकुल रहते, जनसाधारण तो था ही परिस्थितियों का शिकार। महावीर को प्रकृति ने महत् कार्य के लिए जना था और वह महत् कार्य यही था कि मानव मुख की खोई हुई कांति को पुनः प्राप्त किया जाए और आत्मवंचना में जी रहे उस समाज को जागृत कर उसे सही दिशा दी जाए। प्रश्न था—यह सब कैसे हो ? इसका स्पष्ट और एकमात्र उत्तर यही था कि महावीर अपने दलदली परिवेश से बाहर आएं और जनसाधारण में रहें, उनकी समस्याओं को गहराई से समझें और उनके समाधान खोजें। महावीर ने यही किया। उन्होंने राजमहल छोड़ दिया और झोंपड़ी के पास पहुंचे। उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की। उन्हें 'केवल ज्ञान' प्राप्त हुआ और सभी समस्याओं के समाधान मिल गए। वही समाधान महावीर के मूल सिद्धांत कहलाए जिनका वर्णन हम आगे कर रहे हैं।

अहिंसा

महावीर ने सर्वप्रथम अहिंसा का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उन्होंने

कहा कि तुच्छातितुच्छ जीव को भी मन, वचन या कर्म किसी भांति से भी कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए। सभी जीव जीना चाहते हैं। कोई जीव दुःख की आकांक्षा नहीं रखता। सभी में प्राण समान हैं। इसलिए हमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुरूप ही अपना आचरण बनाना चाहिए। हिंसा वीरोचित कर्म नहीं; अपितु यह कायरमन की भय-ग्रंथि है। इसके विपरीत अहिंसा सार्वभौम धर्म, मानव का सर्वोत्तम गुण और वीरों का आभूषण है। 'अहिंसा भगवती है।'[1] ओज है, शक्ति है, अहिंसा से हम हृदयों को जीतते हैं। इससे घृणा मिटती है क्योंकि यह मैत्री और प्रेम का उद्गम है, शांति-सुधा है। महाभारतकार व्यास ने अहिंसा को परम धर्म, परम तप, परम सत्य, परम संयम, परम दान, परम यज्ञ, परम फल, परम मित्र और परम सुख कहा है।[2]

अहिंसा का सिद्धान्त बहुत व्यापक और विशद है। अहिंसा का पालन करने वाला व्यक्ति कभी झूठ नहीं बोल सकता, वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह नहीं कर सकता, चरित्रहीन नहीं हो सकता। इसलिए जहां अहिंसा है, वहां पांचों महाव्रत हैं।[3] अहिंसा निषेधात्मक ही नहीं विधेयात्मक सिद्धांत भी है। जीवों की हिंसा न करने के साथ ही उनके प्रति दयाभाव रखना अहिंसा का मूल तत्त्व है।

अपरिग्रह

समाज के लिए परिग्रह की प्रवृत्ति अत्यन्त घातक और विनाशकारी है। परिग्रह शृंखला में लगभग सभी लोग जकड़े हुए हैं। आवश्यकता से

---

1. एसा सा भगवती अहिंसा।—प्रश्न-व्याकरण।
2. अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परम् तपः।
   अहिंसा परमं सत्यम् यत्तो धर्मःप्रवर्तते॥
   अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः।
   अहिंसा परम् दानमहिंसा परमनं तपः॥
   अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परम् फलम्।
   अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमम् सुखम्॥
   महाभारत, अनुशासन पर्व 115-23/116/28-29
3. देखिए—दशवैकालिक चूर्णि प्र.अ.।

अधिक का संग्रह भाव सब ओर दृष्टिगोचर होता है। महावीर ने कहा— 'वस्तु अपने आप में परिग्रह नहीं है, प्रत्युत वस्तु के प्रति मूर्छा भाव ही वस्तुत: परिग्रह है।"[1]

यह 'मूर्छा भाव' हमारी अतृप्ति और असंतुष्टि का जनक है। इसी अतृप्ति के कारण हम अधिक धन-संग्रह की कामना में लिप्त होकर दुष्कर्म करते हैं। धनैषणा ही खाद्य-पदार्थों और औषधियों में घातक मिलावट करवाती है, जिससे आए दिन अबोध प्राणों का हनन होता है। यही शोषण का चोर-बाजारी का कारण है। इसी ऐषणा के प्रभाव में अबोध बच्चों और अबलाओं का हरण होता है। उन्हें बेचा जाता है और उनका चरित्र नष्ट किया जाता है। धन को जीवन मान लेने वालों को महावीर ने कहा—धन इस लोक और परलोक में तुम्हारी कहीं भी रक्षा नहीं कर सकता।[2] कुबेर का वैभव भी मानव-मन को संतुष्टि नहीं कर सकता। परिग्रह अशांति का मुख्य कारण है। अपरिग्रह का पालन करके ही मानव अपनी ऐषणाओं पर अंकुश लगा सकता है। अपरिग्रह शांतिसुमन, हार्दिक शीतलता और परम पावनता है। यह मोह त्याग का पाठ पढ़ाता है, जिससे मानव मन की संकुलता नष्ट होती है और वह विशाल बनता है। अपरिग्रह सभी के लिए परम गुणकारी सिद्धान्त है।

अनेकांत

महावीर के अन्य सिद्धान्तों की भांति अनेकांत सिद्धान्त भी उनका मौलिक एवं असाधारण सिद्धान्त है। यह ऐसा सिद्धान्त है, जो वस्तुओं की विविध कोणों एवं दृष्टिओं से जांच पड़ताल करता है। यह आग्रह त्याग का सिद्धान्त है। इसके अनुसार संसार में दिखाई देने वाली कोई भी वस्तु न निर्दोष है और न निर्गुण (दृष्टम् किमऽपि लोकेस्मिन्, न निर्दोषम् न

---

1. मुच्छा परिग्गहो, वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा।
—दशवैकालिक अ. 6/ गा. 20.
श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री कृत 'धर्म और दर्शन' में उद्धृत।
2. वित्तेन ताणम् न लभे पमत्ते। इमम्मि लोए अदुवा परत्था॥
—उत्तराध्ययन अ0 4/गा. 5.

निर्गुणम्) इसी को स्याद्वाद कहते हैं। लेकिन यह सन्देहवाद नहीं है, अपितु यह वस्तु तत्त्व की एकान्त रहितता पर बल देता है । यह स्पष्ट उद्घोष करता है—"जो विचारक वस्तु के अनेकांत धर्मो को अपनी दृष्टि से ओझल करके किसी एक ही धर्म को पकड़ कर अटक जाता है, वह सत्य को नहीं पा सकता।[1] स्याद्वाद और अनेकान्त में कोई अन्तर नहीं है। स्याद्वाद वस्तु की अनेकात्मकता को भाषा द्वारा प्रकट करना होता है।[2] जब कि अनेकान्त वस्तु तत्त्व को कहते हैं। इस प्रकार इनमें प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है।

स्याद्वाद के द्वारा हठपूर्ण दृष्टिकोण एवं दुराग्रही कथन से बचा जा सकता है। यह हमें एक ही वस्तु को दूसरे की दृष्टि से देखने की दृष्टि-वुद्धि देता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त परस्पर कटुता एवं विरोध को समाप्त करता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समन्वय उत्पन्न करता है। श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री के शब्दों में—"अनेकान्तवाद समस्त दार्शनिक समस्याओं उलझनों और भ्रमणाओं के निवारण का समाधान प्रस्तुत करता है। डा० हर्मन जैकोबी ने कहा—"स्याद्वाद से सब सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।" आग्रहशील व्यक्ति युक्तियों को उसी जगह खींचतान करके ले जाना चाहता है, जहां पहले से उसकी वुद्धि जमी हुई है, मगर पक्षपात से रहित मध्यस्थ पुरुप अपनी बुद्धि का निवेश वहीं करता है, जहां युक्तियां उसे ले जाती हैं।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व शांति की स्थापना में स्याद्वाद महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। यह परस्पर वैर-भावना और शत्रुता को समाप्त करता है। जीवन सरसता और आनन्द-प्राप्ति के लिए स्याद्वाद सर्वोत्तम दृष्टि है। सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी धर्म, जाति, दर्शन, विचार या व्यक्ति से द्वेप नहीं कर सकता।

---

1. एयन्ते निरवेक्से नो सिज्झइ विविह-यावंग दव्वं।
   (श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्रीकृत—'धर्म और दर्शन' में उद्धृत)
2. अनेकान्तात्मकार्थ कथनम् स्याद्वादः।
   —लघीयस्त्रय 0 62, अकलंक।
3, आग्रही वत निनोपति युक्तिम् । यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा।
   पक्षपातरहितस्य तु युक्तिः। यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥
   —हरिभद्र सूरि।

व्यक्ति को अपना स्वरूप जानने की जिज्ञासा आरम्भ ही से रही है। मैं कौन हूं? क्या हूं? कहां से आया हूं? कहां जाऊंगा? आदि प्रश्न सदा ही उसके मन-मस्तिष्क को मथते रहे हैं। भारतीय मनीषियों ने इन प्रश्नों पर गम्भीरता-पूर्वक और विशद् रूप में विचार किया है। इस विचार के परिणाम स्वरूप भारत में अध्यात्म-चिन्तन की अत्यन्त मौलिक एवं सुलझी हुई परम्परा प्राप्त होती है।

चार्वाक्, बौद्ध, वैदिक तथा जैन-धर्मों ने अपनी-अपनी दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया है। चार्वाक् अनात्मवादी हैं। उनकी मान्यता है कि पंचभूतों से निर्मित तत्त्व ही आत्मा है। इनके अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। लेकिन जैन-दर्शन इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहता है कि चैतन्य गुणवाली आत्मा की जड़वत धर्मवाले भूतों से उत्पत्ति सम्भव नहीं।[1] क्योंकि पांचों इंद्रियां अपने-अपने विषय का ही परिज्ञान करती हैं। एक इन्द्रिय द्वारा जाने हुए विषय को दूसरी इन्द्रिय नहीं जानती, किन्तु पांचों इंद्रियों के जाने हुए विषय की समष्टि रूप से अनुभूति कराने वाला द्रव्य कोई भिन्न ही होना चाहिए और उसे ही आत्मा कहते हैं।[2] महात्मा बुद्ध ने कहा है कि आत्मा है और यह भी कहा है कि आत्मा नहीं है। उनके अनुसार यदि यह कहें कि आत्मा है, तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं और यदि कहें कि आत्मा नहीं है, तो लोग उच्छेदवादी बन जाते हैं।

वैदिक-दर्शन आत्मा को अजर, अमर और नित्य मानता है। गीता के अनुसार शस्त्र आत्मा को छेद नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल उसे गीला नहीं कर सकता और पवन सुखा नहीं सकता।[3] मनु कहते हैं कि सब ज्ञानों में आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ है। सभी विद्याओं में यह परविद्या

1. सूत्रकृतांग वृत्ति
2. वही।
3. नैनम् छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनम् दहति पावकः।
न चैनम् क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।—गीता, अध्याय 2/23

है जिससे मानव को अमृत प्राप्त होता है।[1]

जैन-दर्शन की आत्मा सम्वन्धी दृष्टि वैदिक धर्म के निकट होते हुए भी स्वतन्त्र दृष्टि है। गीता के अनुरूप जैन-दर्शन की भी मान्यता है कि, "आत्मा अच्छेद्य है, अभेद्य है, उसे अग्नि जला नहीं सकती, शस्त्र काट नहीं सकता। लेकिन जैन-दर्शन ज्ञान और आत्मा को एक ही मानता है। वह आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, वीर्य और उपयोगमय मानता है।"[2]

उनके अनुसार आत्मा शाश्वत है।[3] तीनों कालों में वह जीव रूप में ही विद्यमान रहता है।[4] जैन—दर्शन जीव और अजीव को भी शाश्वत मानता है[5] वह मानता है कि आत्मा निराकार है, किन्तु सकर्मक आत्मा किसी शरीर के साथ ही रहती है। इस प्रकार वह उसे काया-परिमित मानता है। आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए श्री वादिदेव सूरि ने कहा है—आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। वह चैतन्य स्वरूप है, परिणामी है, कर्मों का कर्त्ता है। सुख-दुख का साक्षात भोक्ता है, स्वदेह परिमाण है, प्रत्येक शरीर में भिन्न है, पौद्गलिक कर्मों से युक्त है।"[6]

इस संक्षिप्त परिभाषा में जैन दर्शन सम्मत आत्मा का पूर्ण रूप स्पष्ट होता है।

कर्मवाद

जैन—दर्शन में अन्य भारतीय दर्शनों की भांति कर्म सिद्धान्त भी

---

1. सर्वेषामपि चैतेपामात्मज्ञानम् परम् स्मृतम्।
   तद्धयग्रंथ सर्वविद्यानां प्राप्यते ; ह्यमृतं ततः॥ मनुस्मृति अ. 12
2. से न छिज्जइ न भिज्जइ न उज्झइ न हम्मइ कंचणम् सव्वलोए।
   —1/3/3,
3. देखिए उत्तराध्यन, 28/11.
4. जीवो अणाइ अनिधनो अविणासी अक्खओ धुओ णिच्चम्।
   —भगवती
5. देखिए—ठाणांग, 5/3/530.
6. देखिए—ठाणांग, 2/4/151

प्रमुख सिद्धांत है। जैनेतर भारतीय दर्शन जहाँ कर्म को आत्मा का गुण, प्रकृति का विकार, चित्तगत वासना, यज्ञादि क्रियाएँ व्रत नियमादि धार्मिक अनुष्ठान तथा अच्छे बुरे कार्यों को कर्म कहते हैं, वहां जैन दर्शन के अनुसार मिथ्यात्व, अव्रत प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है।[1] कर्म को करने में जीव स्वतन्त्र है, किन्तु उसका फल भोगने में वह कर्माधीन है। जिस प्रकार व्यक्ति मदिरा पीने में तो स्वतन्त्र है, किन्तु उस द्वारा उत्पन्न परिणाम भोगने में परतन्त्र है। उसकी इच्छा न होते हुए भी मदिरा का नशा अपना रंग अवश्य दिखलाएगा। इसलिए कर्म आत्मा का गुण नहीं, किन्तु वह आत्मगुणों का विघातक है।

जैन—दर्शन ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझता। उसका स्पष्ट मत है कि जीव जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है।[2] सुख-दुख का निर्माता आत्मा स्वयं है। अतः जैन दर्शन की मान्यता है कि जो आत्मा कर्मों से बँधा है, वह एक दिन उनसे मुक्त भी हो सकता है।

इस प्रकार कर्मवाद का सिद्धान्त जैन-दर्शन की विश्व को एक अद्भुत् एवं अपूर्व देन है। यह सिद्धान्त मानव की प्रतिकूल परिस्थितियों में अडिग रह कर सुकर्म करने की प्रेरणा देता है।

सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चरित्र

जैन—आगमों ने जीवन के कलुष को मिटाने के लिए इस बात पर बहुत बल दिया है कि हमारी दृष्टि शुद्ध हो, ज्ञान शुद्ध हो, और चरित्र शुद्ध हो। इनकी शुद्धता के अभाव में हम किसी भी क्षेत्र में सफलतापूर्वक विचरण नहीं कर सकते।

आत्म-विस्मृति से निकल कर विवेक युक्त दृष्टि की प्राप्ति को सम्यग् दर्शन कहा गया है। सम्यग्दर्शी यथार्थ द्रष्टा होता है, जिसका अन्तर सत्य के आलोक से आलोकित रहता है। न्याय दर्शन तत्त्व ज्ञान को, सांख्य दर्शन, भेद ज्ञान को, गीता योग को और योगदर्शन विवेक ख्याति को सम्यगदर्शन मानता है। सम्यग दर्शन जैन संस्कृति का मौलिक

1. देखिए—कर्म ग्रन्थ—प्रथम भाग गा. 1. आचार्य देवेन्द्र।
2. अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य। उत्तराध्ययन 20/37.

तत्त्व है। वह इसे जीवन की श्रेष्ठ कला और आत्मा की सहज अभिव्यक्ति मानता है।[1]

जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का मौलिक गुण मानता है। उसके अनुसार आत्मा क्या है? कर्म क्या है? बन्धन क्या है? कर्म आत्मा के साथ क्यों बद्ध होते हैं? आदि विषयों का यथार्थ रूप से परिज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। कन्फ्युशिय ज्ञान को आनन्द प्रदाता और शेक्सपीयर ने वह पंख बताया हैं जिससे हम स्वर्ग में उड़ते हैं। जैन-दृष्टि से साधना के क्षेत्र में सम्यग् ज्ञान का वही महत्त्व है जैसा सम्यक् दर्शन का है।[2] ज्ञान प्रकाशक है।[3]

स्विनांक ने लिखा है—विना चरित्र के ज्ञान शीशे की आंख की तरह है, सिर्फ दिखलाने के लिए और एक दम उपयोगिता रहित।[4] जैन दष्टि से आत्मा में रमण और जिनेश्वरों के वचनों पर पूर्ण आस्था रखना और तदनुरूप आचरण करना सम्यक् चरित्र कहलाता है।

इस प्रकार सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चरित्र साधना के तीन अंग हैं और जैन दार्शनिक इन तीनों अंगों के समन्वय पर वल देते हैं।[5]

अतः जैन—दर्शन की दृष्टि एक पूर्ण जीवन-दृष्टि है, जिससे हम अपना विश्लेषण करके गुणावगुणों से परिचित हो कर उनका ग्रहण एवं त्याग कर सकते हैं।

यह कृति कैसी वन पड़ी है, इस का निर्णय सुधी पाठकों पर छोड़ता हूं और अपेक्षा करता हूं कि वे अपने अमूल्य सुझाव तथा सम्मति दे कर कृतार्थ करेंगे।

अन्त में आभार—

अणुव्रत अनुशास्ता युग प्रधान आचार्य श्री तुलसी जी का मैं अत्यन्त आभारी हूं जिन्होंने अपना अमूल्य समय निकाल कर 'मृत्युञ्जय महावीर'

---

1. धर्म और दर्शन श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री।
2. 'धर्म और दर्शन'—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री।
3. णाणम् पयासंय— —महानिशीथ 7
4. श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री कृत—'धर्म और दर्शन' में उद्धृत।
5. 'धर्म और दर्शन—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री।

की पाण्डुलिपि को पढ़ा और अपने आचार्योचित भावपूर्ण एवं सारगर्भित आशीर्वचन दे कर मुझे कृतार्थ किया।

श्रद्धेय गुरु विश्वविख्यात साहित्यकार डाक्टर हरिवंश राय जी बच्चन ने स्वास्थ्य ठीक न रहने पर भी पाण्डुलिपि को पढ़ कर अमूल्य सुझावों तथा शुभाशीष से मुझे गरिमा प्रदान की है। मैं उनका चिर ऋणी रहूंगा।

कवियित्री एवं परम विदुषी साध्वी मंजुला श्री जी की अमित कृपा के लिए अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिन्होंने 'मृत्युञ्जय महावीर' की विद्वतापूर्ण समीक्षा लिखी।

कवि-बन्धु कुमार रविन्द्र, डा. आर. के सिंह तथा जगत राम 'जगत' ने अपने सुझावों से मेरी कृति को परिष्कृत करने में अत्यन्त सहयोग दिया। ये मित्र धन्यवाद शब्द से रुष्ट न हों, इसलिए इतना ही कहूंगा कि इनके कष्ट ने मुझे उल्लास प्रदान किया है।

प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग के लिए हरियाणा साहित्य अकादमी का धन्यवादी हूं।

—निर्दोष हिसारी

लोहमरोड़ कॉटेज,
गूजरान पड़ाव,
हिसार-125001

प्रथम सर्ग

●

'जन्म पूर्व स्थिति'

●

सबल मारता था दुर्बल को
दुर्बल आगे दुर्बलतर को
प्राणी था प्राणी का वैरी
तकते रहते थे अवसर को

जिसका वर्णन है, उस युग को
बीत चुकी हैं पच्चिस सदियां
तब से सागर में अमाप जल
उमल चुकीं भारत की नदियां

अपने ही कर्मों के फल से
भारत-भू थी बड़ी त्रसित
लोभ, मोह औ' राग-द्वेष से
हर प्राणी था यहां ग्रसित

अवगुण का आतंक प्रबल था
गुण निर्बल, आलोक हीन था
मर्यादा-पालक भी थे जन
लेकिन उनका असर क्षीण था

उजली चादर कम दिखती थीं
अधिक दीख पड़ती थीं मैली
संयम-पालन के अभाव में
घोर अराजकता थी फैली

धर्म-भावना शिथिल हुई थी
कलुष-भरा था जगती-जीवन
आधि-व्याधि का घोर राज्य था
शोकाकुल रहते थे सब जन

खानपान के मानदण्ड तव
प्रकृति के अनुकूल नहीं थे
खाद्य-अखाद्य सभी खा जाते
कोई नियम-उसूल नहीं थे

कोई मरता लिये अपच को
कोई भूखा रह मरता था
कोई करता था प्रभुताई
कोई सेवक बन रहता था

सबल मारता था दुर्बल को
दुर्बल आगे दुर्बलतर को
प्राणी था प्राणी का वैरी
तकते रहते थे अवसर को

महास्वार्थ में डूबा मानव
वजा रहा था अपनी तूती
नर का अहम् समझता था तव
नारी को निज पग की जूती

अंधकार ही अंधकार था
हाथ को हाथ नहीं दिखता था
सज्जन जो था वह प्राची में
वहुत विकलता से तकता था

तम हो कितना ही गहरा पर
उस को जाना ही होता है
उचित समय पा रंगमञ्च पर
रवि को आना ही होता है

द्वितीय सर्ग



जन्म



अर्थवान हो गई घड़ी वह
'वर्धमान' जो हमें दे गई
उस द्युति के कारण ही जग में
वह उजली निशि अमर हो गई

विकस रही थीं कली बाग में
पुष्प प्रौढ़ हुए जाते थे
महाकाल के नन्हे से पल
अपना काम किये जाते थे

मन्द-मन्द था पवन बह रहा
दिशा-दिशा में खुशबू भरता
धीरे - धीरे चलता चन्दा
हर कोना उजियारा करता

किसी अनागत के स्वागत में
अपने पूरे प्राण लगाये
सभी दिशाएँ मौन हुई थीं
जैसे ध्यानी ध्यान लगाये

कुण्डलपुर[1] वैभव की नगरी
बिल्कुल बेसुध हो सोई थी
पूरे दिन के श्रम से थक कर
मीठे सपनों में खोई थी

देख रही थीं सपनों का क्रम[2]
राजमहल में त्रिशला[3] माता
नई भोर के जो थे सूचक
जो थे सब के सब सुखदाता

रत्न राशि, निर्धूम अनल फिर
सागर और सरोवर देखे
सिंहासन था, स्वर्ण कलश था
उदित चन्द्र औ' दिनकर देखे

युगल मीन फिर दो मालाएँ
श्वेत बैल फिर गज ऐरावत
दिखीं लक्ष्मी स्वर्ण कलश सँग
स्वर्गयान फिर सिंह वेगवत

महापुरुष के आने का यों
हो जाता है पूर्व आभास
सूर्योदय से पहले जैसे
आ जाता है अमल प्रकाश

वह मध्य रात्रि की वेला थी
शुक्ला तेरस चैत्रमास की
चतुर्थअर[4] होने में पूरा
बाक़ी लगभग पौन शती थी

पूर्ण मौन के उस इक पल में
चन्दा-विभा अधिक उभरी थी
परम पुनीता त्रिशला मां में
अम्बर से इक द्युति उतरी थी

शुभ द्युति वह परम धाम की
परम ज्योति से ही थी आई
ऐसी द्युति जो बढ़ते-बढ़ते
दिनकर बन जगती पर छाई

अर्थवान हो गई घड़ी वह
वर्धमान[5] जो हमें दे गई
उस द्युति के कारण ही जग में
वह उजली निशि अमर हो गई

तारे नीचे झुक आये थे
अम्बर ने फिर नमन किया था
दिशि दिशि में किलकारी गूंजी
पूर्ण प्रकृति को शमन किया था

कोख नहीं, वह विशद् क्षितिज था
जिसने जन्मा था दिनकर को
कोख नहीं, वह महाकाश था
जिसने जन्मा करुणाकर को

मंगलध्वनियां गूंज उठी थीं
राजमहल के उस उत्सव की
दिशि-दिशि में अनुगूंज भरी थी
महापुरुष के उस उद्भव की

बाहर हिमकर, घर में दिनकर
कैसी अद्‌भुत रात हुई थी
चकित हुए सिद्धार्थ देखकर
बहुत अनोखी बात हुई थी

चाचा[7] को यों लगा कि उन के
भजा और दो उग आई हैं
योद्धा थे, यों खुश थे जैसे
बहूमूल्य खड़ग् दो पाई हैं

अनुज मिला तो नन्दीवर्धन[8]
इतना हर्षित हो आया था
जैसे उसने अनायास ही
अपना इच्छित फल पाया था

थी सुदर्शना[9] उड़ती फिरती
इस स बढ़ त्योहार नहीं था
पांव धरा पर कैसे पड़ते
सुख का पारावार नहीं था

---

1. वैशाली गणतंत्र के अन्तर्गत महावीर का जन्म स्थान। इसे 'कुण्डग्राम' या 'क्षत्रिय कुण्ड' भी कहा जाता था। 2. स्वप्न शृंखला में स्वप्न दर्शन की दो परम्पराएं उपलब्ध हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार स्वप्न शृंखला-गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, माल्यद्विक. शशि, सूर्य, कुम्भाद्विक़, ऋष युगल, सागर, सरोवर, सिंहासन, देवविमान, नाग विमान, रत्नराशि और निर्धूम अनंल। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार—गंज, वृषय, सिंह, श्री अभिषेक माला, शशि, दिनकर, कुम्भ, ध्वजा, सागर, पदमसर, रत्नउच्चय, विमान, अग्नि। 3. महावीर की जननी 4. जैन मान्यतानुसार काल गणना तदनुसार 30 मार्च 599 ई0 पू0। 5. महावीर के अनेक नामों में से एक। 6. महावीर के जनक। 7. महावीर के चाचा सुपार्शव 8. महावीर के अग्रज तथा 9. वहिन।

तृतीय सर्ग



बाल्यकाल



आठ वर्ष का बालक था पर
लगता था ज्यों सोलह का हो
धीर, वीर औ' निडर बहुत था
मुख था मानो रवि दहका हो,

अमृत सम पय पीते पीते
वर्धमान नित बढ़ता जाता
वाल सुलभ क्रीड़ाएँ करता
मात-पिता का मन हर्षाता

तुतली-तुतली बातें उस की
सभी जनों के मन को हरतीं
दास-दासियों को भरमातीं
घर-आंगन को प्रमुदित रखतीं

वहुत लाड करती थीं लेकिन
मां का मन था, कब भरता था
अमित-प्राण के शुभ मस्तक पर
नेह पिता का नित झरता था

चाचा सुघड़ भतीजे को लै
ऊँचे को थे खूब उछालते
वर्धमान को हँसता पा कर
खूब चूमते औ' दुलारते

वर्धमान अव जल्दी-जल्दी
घुटनों के वल चल लेता था
चलते-चलते पीछे लख कर
सव के मन को हर लेता था

कुण्डलकेशी वर्धमान को
सज्जा का सामान लुभाता
विस्मित सा वह उसे देखता
चुप हो जाता, फिर हर्षाता

जाने उस के मन में कैसे
क्या-क्या भाव उदित होते थे
क्या कारण था चुप होने का
फिर क्या चाव उदित होते थे

कभी सलोना मुख हो जाता
भाव पूर्ण अति ही गम्भीर
कभी हर्षमय किलकारी से
सन्नाटे को देता चीर

उस को अनगिन मिले खिलौने
तरह-तरह के सुन्दर-सुन्दर
गज थे, हय थे, सिंह औ' भालू
हरियल तोता, चिड़िया, बन्दर,

लेकिन सभी खिलौनों में तो
उस का मन कुछ कम जमता था
लेकिन सिंह उसे था प्यारा
उस में उस का मन रमता था

खेल खेलते संध्या होती
निंदिया आती, उसे सुलाती
निशि दे जाती मीठे सपनें
भोर चूम कर उसे जगाती

चंचल, चपल मीत पाने पर
निर्जीव खिलौने छूट गये
मित्रों की दुनिया में आकर
पिछले सब सपने टूट गये

वर्धमान अब बढते बढ़ते
घर-आंगन को छोड़ रहा था
बाल सखाओं को ले दिन भर
वन-उपवन में दौड़ रहा था

आठ वर्ष का बालक था पर
लगता था ज्यों सोलह का हो
धीर, वीर औ' निडर बहुत था
मुख था मानो रवि दहका हो

कूद-फांद में आगे रहता
सर्व प्रथम पेड़ों पर चढ़ता
परम निपुण था सब खेलों में
आगे हरदम सब से बढ़ता

एक दिवस वह मित्रों के संग
आमलकी क्रीड़ा में रत था
जिस पर चढ़ना था उनको, वह
महा पेड़ लगता गिरिवत था

उसी विटप पर रहता था इक
महा भयानक काला विषधर
वर्धमान था सब से आगे
सब से पहले चढ़ा विटप पर

देख सर्प को बच्चे चीखे
भयभीत हुए सब भाग गये
विषधर ने विष-फुंकारों से
थे वृक्षपात सब जला दिये

वर्धमान पर निडर खड़ा था
बुला रहा था—आओ साथी
विषधर ही है, क्यों डरते हो
कायर मत बन जाओ साथी

दूर खड़े वे रहे देखते
कोई पास नहीं आया था
और सर्प ने फुंकारों से
आस-पास को गुंजाया था

वर्धमान ही बढ़ा अकेला
जा पहुंचा वह पास सर्प के
पकड़ युक्ति से, दूर फेंक कर
तोड़ दिये थे दांत दर्प के

केवल साहस पुंज नहीं था
मेधावी भी बहुत अधिक था
चिन्तन-धन का स्वामी था वह
चिन्तन-जग का परम धनिक था

वर्धमान से मेधावी को
कञ्चन खरा बनाने के हित
सिद्धार्थ सोचते, तो लगते
'कलाचार्य' ही सब भांति उचित

सभी कलाओं में पारंगत
कलाचार्य थे विद्या सागर
देश-देश में पुजते थे वह
उस युग के थे पूर्ण प्रभाकर

सिद्धार्थ स्वयं करते थे आदर
गुरूवत उन को जाना करते
शील, ज्ञान, गुणवान सभी कुछ
कलाचार्य को माना करते

अतः एक दिन वर्धमान संग
भांति-भांति की भेंटें ले कर
श्रद्धानत औ' अति विनीत हो
जा पहुंचे वह गुरु-द्वार पर

गुरु सिद्ध थे, रोम-रोम से
तेजोमय अनुभव झरता था
अनायास ही दर्शक का सिर
उन के चरणों पर झुकता था

राजा मिले, झुके, पद-रज ली
फिर जा बैठे उचितासन पर
वर्धमान भी अभिवादन कर
बैठ गया था कुश-आसन पर

'प्रताप वृद्धि हो, चिरायु हों
जग में हो जयकार तुम्हारा'
नृप को दे आशीष गुरु ने
वर्धमान को भी पुचकारा

लेकिन जब आंखों से आंखें
गुरु-शिष्य की मिलीं परस्पर,
देखा ऋषि ने तेज शिष्य का
देखा फिर आलोकित अन्तर

समझ गये वह—इस बालक को
किसी ज्ञान की नहीं जरूरत
'यह तो ज्ञानी, मैं संग्राहक'
गुरु ने किया स्थिर ऐसा मत

निज मत पुष्टि हेतु पर ऋषि ने
साधारण सा प्रश्न कर दिया
वर्धमान ने दे कर उत्तर
गुरु को ज्यों अवसन्न कर दिया

चकित नृपति ने देखा ऋषि को
ऋषि ने फिर गम्भीर बात की
वर्धमान ने थोड़े ही में
वह जटिल पहेली सुलझा दी[1]

कहा गुरु ने—'मैं क्या दूंगा
इस को ज्ञान अकूत मिला है
धन्य-धन्य हे राजन तुम को
बहुत विलक्षण पूत मिला है'

---

(1) गुरु ने वर्धमान से ये प्रश्न पूछे—अक्षरों के पर्याय कितने हैं? उनके भंग (विकल्प) कितने हैं? उपोद्घात क्या है? आक्षेप और परिहार क्या हैं? कुमार ने इन प्रश्नों के उत्तर दिये। प्रश्नों की लम्बी तालिका प्राप्त है, पर उत्तर अप्राप्त। इस विश्व में यही होता है, समस्याएं रह जाती हैं, समाधान खो जाते हैं।

—श्रमण महावीर, पृ. 6, ले. मुनि श्री नथमल

चतुर्थ सर्ग



यौवन



विशालाक्ष औ' कुण्डल केशी
वर्धमान जब बाहर आते
उच्च कुलों के वातायन तब
रूप-चान्दनी से सज जाते

मात-पिता की वाणी सुन कर
वर्धमान गम्भीर हो गया
लगा कि उस का अन्तर मन ही
क्षितिज पार जा कहीं खो गया

विकल हुई थी मां की ममता
अन्तर आंखों में चढ़ आया
'अच्छे बेटे स्वीकृति दे दो'
कह कर उस का सिर दुलराया

वर्धमान नें आंख उठा कर
देखे मां के सजल नयन वे
सोचा उसने — कैसे टालूं
जननी के शुभ, नेह-वचन वे

कुछ पल मौन रहा फिर बोला—
'निज-पथ मैं पहचान रहा हूं
इच्छा तो है नहीं किन्तु मैं
आदेश आप का मान रहा हूं'

माता-पिता हुए अति हर्षित
झटपट उसको गले लगाया
वे गर्वित थे अपने मन में
आज्ञाकारी सुत है पाया

जांचे वे प्रस्ताव सभी जो
अनगिन उच्च कुलों से आये
मात-पिता इच्छुक थे, बेटा
उत्तम जीवन-साथी पाये

राजकुमारी थी कलिंग की
परम गुणवती, अति सुन्दर थी
निपुण सभी गृहकार्यों में थी
मेधा की वह बहुत प्रखर थी

थे कलिंग-पति भी अति उत्सुक
सुता-योग्य शुभ वर पाने को
हाथ यशोदा सी पुत्री का
श्रेष्ठ हस्त में पकड़ाने को

कुण्डलपुर औ' कलिंग देश की
कुंडली आपस में मिल आई
उभय पक्ष संतुष्ट बहुत थे
सबने मन-मुराद यों पाई

शुभ घड़ी देख, नक्षत्र देख कर
पाणिग्रहण संस्कार कर दिया
योग्य यशोदा-वर्धमान को
जग ने एकाकार कर दिया

☐ विवाह के सम्बन्ध में जैन साहित्य में दो परम्पराएं प्राप्त होती है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वर्धमान का विवाह हुआ और उनके प्रिय दर्शना नाम की कन्या हुई। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वर्धमान ने विवाह-प्रस्ताव को ठुकरा दिया और वे जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। इन पंक्तियों का लेखक श्वेताम्बर परम्परा को लेकर चला है।

षष्टम सर्ग

●

गृहस्थ

●

सन्मति भोग-निरत भी
सदा भोग को त्यागे रहते
वह सम्पूर्ण भोग के
सरस पलों में जागे रहते

वसन्त वैभव से समृद्ध यशोदा अकुलाती थी
उस की शिरा-शिरा में काम-कामना लहराती थी
अंग-अंग में क्रुद्ध नाग सा शोणित दौड़ रहा था
हर संवेग उसे अब काम-दिशा में मोड़ रहा था

नयनों की कोरों में गहरे अर्थ उभरते रहते
मौन अधर निज कम्पन से थे अनगिन बातें कहते
कनक कांति सा दीप्त वदन, वह सागर बन आया था
जिसके अन्तर में प्रबल प्रभंजन लहराया था

दीप-शिखा सी निष्कम्पित वह हरदम जलती रहती
पर वह लज्जावश ही कभी-कभी ही थी कुछ कहती
रोम-रोम था व्याकुल बाहुपाश में भर जाने को
पति के वज्र वक्ष पर तीव्र लहर सा लहराने को

नव विकसित कलिका की भांति सदन में लहक रही थी
कामदेव की छुअन सुवासित से वह महक रही थी
उस की पूर्ण चेतना अंगारे सी दहक रही थी
कामातुर कोयल सी रोम-रोम से चहक रही थी

मिलते थे पति लेकिन एकाकार नहीं होते थे
पति में सोने के सपने साकार नहीं होते थे
तन से निकट मगर वह मन से दूर-दूर ही लगते
सिर्फ देह से मिलते थे, वे नहीं हृदय से मिलते

सन्मति' भोग-निरत भी सदा भोग को त्यागे रहते
वह सम्पूर्ण भोग के सरस पलों में जागे रहते
पा एकान्त एक दिन उस ने पति से बात चलाई—
'कुछ बातें हैं आर्य जो नहीं समझ में मुझ को आई'

प्रिय, मुझ में से होकर मुझ से पार कहां जाते हो
मुझ से बढ़ कर कौन जगह है, नाथ जहां जाते हो
क्यों कञ्चन काया मेरी तुम को बांध नहीं पाती
यह रूप-वाटिका नहीं भला क्यों तुम को महकाती ?

पूर्ण समर्पण में भी क्यों लगती है कुछ दूरी सी
मध्य हमारे जो रहती है, क्या है मजबूरी सी
क्या मैं कुरूप हूं, या मुझ में कोई सार नहीं है
बुद्धि नहीं है, शील नहीं या मुझ में प्यार नहीं है

बोले सन्मति-सुभगे, जाने कैसे क्या होता है
यह जगा हुआ मन मेरा क्यों कभी नहीं सोता है
तुम में कमी नहीं है, तन्वंगी हो, अति सुन्दर हो
रमणीय हो, कमनीय हो, कोमल और मनोहर हो

प्रेम-सरोवर हो तुम परम निपुण हो, शीलवान हो
ऐ पति परायणा देवि, मुझे लगतीं सब भांति महान हो
जब रूप-उद्‌धि की लहरें मुझे खींचतीं, खिच आता हूं
पर मैं तट पर आकर अनायास ही रुक जाता हूं

रुक जाता हूं और सोचने लगता हूं मैं मन में
होगी भी क्या शांत काम-वन्हि लगी हुई जो तन में
यह प्यासा तन जब-जब भी है गया भोग के तट पर
लौटा तब-तब क्षणिक तृप्ति संग ले कर प्यास प्रखर

ऐसी कैसी है यह प्यास नहीं जो बुझ पाती है
क्यों तृप्ति नहीं होती, क्यों तृषा शेष रह जाती है
भर कर खाली होते, खाली होकर भर जाते हैं
हम भोग-भंवर में नित डूब-डूब कर उतराते हैं

भोजन पा कर भी यह भूख, भूख क्यों रह जाती है
शांत करें हम जितना उतना ही यह दहकाती है
विचित्र प्रश्न यह, जो उत्तर पा संतुष्ट नहीं होता
पूरा हल पा कर भी जो नहीं जटिलता को खोता

पाने का मतलब, पा कर भी संतुष्ट नहीं होना है
सो कर जगने का बस अर्थ यही कि फिर सोना है
हम को निज अभिलाषा ही उद्भ्रांत किये रहती है
हरदम तरसाती है, सदा अशांत किये रहती है

ये अधरों के पाटल रसमय, गंधिल और सुकोमल
सरल हरिणियों से ये भोले नयन तुम्हारे चंचल
यह कपोल-कांति और ये रेशम से कोमल कुंतल
क्या जीवन बस इतना है? इतनी यौवन की हलचल?

क्या मधु ऋतु सी तुम केवल रूप, गंध, रस-सरवर हो
या ऐसा उपवन जिस में आता नहीं कभी पतझर हो
या तुम अक्षय, अनन्त, सतत रूप-सुधा का निर्झर हो
लगता नहीं मुझे तुम कालजयी हो, अंतिम अक्षर हो

कहां वाटिका ऐसी हरदम हो मधुमास जहां पर
कहां भला वह आंगन हरदम हो उल्लास जहाँ पर
सुबह खिली, दुपहर को मुरझी फूल-पाँखुरी होती
ऐसे ही दो चार दिवस की रूप-माधुरी होती

हम से, तुम से कितने रूप हुए हैं, हो जायेंगे
हुए, खो गये, बाकी जो हैं वे भी खो जायेंगे
ऐसा कौन यहां जो लेकर जन्म नहीं हो मरता
काल चाल चलता है अपनी कभी क्षमा नहीं करता

क्या जन्म-मरण से आगे कोई राह नहीं जाती
क्या दैहिक सुख से आगे कोई चाह नही जाती
यदि जाती है सुभगे, तो मेरी राह वही होगी
जिससे चाह शेष हों सब, मेरी चाह वही होगी,

उस पल निज-करतल से पति-मुख ढांप यशोदा बोली—
मुझे त्याग मत देना स्वामी, फैलाती हूं झोली
तुम बिन मेरा यह जीवन तप्त-मरुस्थल होगा
नागफणी का जंगल मेरा यह अन्तस्तल होगा

मैं हूं अति तुच्छ मीन तुम प्राणाधार सरोवर हो
मेरे शक्ति-स्रोत, मैं अमरवेल तुम तरुवर हो
यदि तुम रूठे तो मेरा तिल-तिल देह-दहन होगा
तुम यदि विमुख हुए तो जीवन का अर्थ मरण होगा

इस जीवन का कोई इति-अथ मुझ को ज्ञात नहीं है
जन्म-मरण से आगे का पथ मुझ को ज्ञात नहीं है
मुक्ति किसे कहते हैं स्वामी और कि बन्धन क्या है
नहीं जानती म्रियमाण क्या और चिरन्तन क्या है

इतना है बस ज्ञात कि तुम को पा कर खो जाती हूं
मिलन-पूर्व की 'मैं' प्रिय मिलने पर 'तुम' हो जाती हूं
एकात्मता यदि बन्धन है तो अच्छा ही लगता है
इस बन्धन में जीना मुझ को सच्चा ही लगता है

एक दूसरे में खोना क्या मुक्ति नहीं कहलाती
निज से अलग कहीं होना क्या मुक्ति नहीं कहलाती
यदि बन्धन मुक्ति यही है तो और कहां जाओगे
तुम प्रकृति-निषेध कर अमृत्व कहाँ पाओगे

रूप ग्रहण करता है मुझ में जो यह बीज हमारा
उस पुष्प रूप में क्या नहीं जियेंगे हमीं दुबारा
निज को यूं उगने देने की इच्छा तो पाप नहीं
नैसर्गिक है, सुख-सागर में खोना संताप नहीं

बोले सन्मति—'सच है यह भी जो कुछ तुम कहती हो
अच्छा है यदि जीवनधारा सहज-सरल वहती हो
पर मेरी दृष्टि प्रकृति से पार वहाँ जाती है
हर बस्तु जहाँ पर मुझ को कुछ और नजर आती है

तब तो तुम भी मात्र यशोदा मुझे नहीं दिखती हो
नित अभंग, अकम्प चेतना-शिखा सी तुम लगती हो
यह सच है—संताप नहीं कुछ सुख सागर में खोना
यदि सम्भव हो एक बार का खोना अन्तिम खोना

लेकिन हम तो पल दो पल को खो कर जग जाते हैं
फिर उस खोने पर हम पछताते हैं अकुलाते हैं
निपट अकेले में क्यों दिल को पीर मथा करती है
सुख सच्चा है तो क्यों आत्मग्लानि हुआ करती है

एकात्मता की बात तुम्हारी अच्छी तो लगती है
आत्म ज्ञान के बिना मुझे पर सत्य नहीं जँचती है
आत्म एक है, सच है, लेकिन क्या है यह तो जानें
क्या है सच्चा रूप हमारा, यह तो हम पहिचानें

मैं होता हूं तुम में, तुम होती हो मुझ में जिस पल
हम में तुम में कुछ भी द्वैत नहीं लगता है उस पल
एक दूसरे में जीते हैं फिर भी अलग-अलग हैं
हम सागर के द्वीपों से ही अपना-अपना जग हैं

यह जो विकस रहा है तुम में निशि दिन अंश हमारा
हम होंगे उस में, पर वह होगी एक नई धारा
जीवन किसी कथा का अटूट अध्याय नहीं होता
प्राणी है विशिष्ट यहां, उस का पर्याय नहीं होता

हम विशिष्ट हैं इसी लिये सब का पथ एक नहीं है
निपट अकेले चलना है, सब का रथ एक नहीं है
यह पथ तो भीतर से होकर भीतर ही जाता है
अन्तस् में जो जितना उतरे उतना ही पाता है

बाहर फैला यह जग मुझ को पूर्ण नहीं लगता है
सुख भी पूर्ण नहीं है दुख भी पूर्ण नहीं मिलता है
इस की शीतलता में जलन, जलन में शीतलता है
पावनता दागी है, दाग दाग में पावनता है

मुझे चाह है पूर्ण शुद्ध की वह अमृत या कि गरल हो
अंतिम को पाना है चाहे वह अत्यन्त विरल हो
पूरा जीवन जीना है औ' मरना भी है पूरा
यह क्या बात हुई यदि जिया अधूरा मरा अधूरा

वह किरण प्राप्त करनी है जो तम से नहीं डरेगी
पानी है वह गन्ध प्रदूषण से जो नहीं मरेगी
इसीलिये लगता है कठिन साधना करनी होगी
आधी और अधूरी दुनिया तो अब तजनी होगी

अरे, हुआ क्या, तुम ने तो आरम्भ कर दिया रोना
नहीं-नहीं यह उचित नहीं दुर्बलता का होना
देह-धरातल से थोड़ा उठ कर ऊपर तो सोचो
तुम सम्वन्धों के वृत्त से वाहर हो कर तो सोचो

इन आसक्तियों से ऊँचे हम तो सत्य चिरन्तन हैं
ये रिश्ते-नाते तो कच्चे धागों के वन्धन हैं
यदि साहस हो तो तुम भी अन्तः लोक में चली चलो
'अपनेपन' की खोज करो, निज सत्य रूप से मिल लो

सप्तम सर्ग

●

महाभिनिष्क्रमण

●

निश्चित तिथि को निश्चित वन में
वर्धमान संन्यस्त हो गए
बाह्य जगत का किया विसर्जन
अन्तर जग में मग्न हो गये,

वैशाली के रनिवासों में
रहता था मधुमासी आलम
वैभव वन्दी सा रहता था
निष्कासित रहते थे दुख-श्रम

सत्ताधारी मद में डूबे
नारी के इंगित पर चलते
'गण' विषयक वे सारे निर्णय
उन की ही इच्छा से करते

उनकी चिन्ता केवल यह थी—
'आय अधिक हो, अधिक आय हो
शासन का सुख बढ़ता जाये
क्या उपाय हो, क्या उपाय हो'

उनकी इस इच्छा को सेवक
झटपट दूर भगा देते थे
दुखी प्रजा की अल्प आय पर
कर कुछ और लगा देते थे

कहने को गणराज्य किन्तु वह
इकजन राज्य हुआ करता था
'गण' तो जिस की ऐय्याशी हित
साँसें ढोते ही मरता था

जनसाधारण के चूल्हे तो
कभी-कभी ही धुँआ उगलते
सामन्तों के श्वान किन्तु थे
पकवानों को नहीं निगलते

क्रीतदास के जीवन से तो
पशु-जीवन ही महासुखद था
पशु को तो विश्राम सुलभ, पर
उसका हर पल महादुखद था

तुच्छ भूल पर स्वामी की थीं
भौंहें ऊपर को खिंच जातीं
हाथों में आ जाता चाबुक
सेवक की आँखें मिच जातीं

तभी पीटना रुकता था, जब
स्वामी पीट-पीट थक जाता
या फिर सेवक मूर्छित होकर
चिल्लाने से था रुक जाता

यह देह-दण्ड तो क्रीतों पर
स्वामी की दया हुआ करती
मृत्यु-दण्ड तक दे सकते थे
वे समर्थ, थी उनकी चलती

धर्म बना था परम सहायक
इन सामन्ती कुकृत्यों में
भाग्यवाद का कुप्रचार कर
भरी हीनता थी भृत्यों में

धर्म गुरु या शासक टोला
चाटुकार या उच्च वर्ग था
स्वर्ग तुल्य था जिनका जीवन
शेष सभी का महानर्क था

वर्धमान को चिंतित करता
जनता का यह महाविपाद
जन को आदर देते थे वह
सामन्तों में थे अपवाद

सोचा 'दशा देश की कैसे
पुनः व्यवस्थित हो सकती है
जन की खोई गरिमा कैसे
पुनः प्रतिष्ठित हो सकती है

धर्म रसातल को जा पहुंचा
राजनीति का अनुचर होकर
जीवन है पर्याय ढोंग का
अपनी सहज सरलता खोकर

जन-सापेक्ष चिरन्तन चिन्तन
आज मनुज निरपेक्ष हो गया
प्राणी चलता फिरता तो है
लेकिन उसका प्राण खो गया

सोचा—"वैभव की दल दल से
पहले खुद को मुक्त करूँ मैं
राजपुरुपता त्याग स्वयं को
जन-जीवन संयुक्त करूँ मैं

स्वयं उदाहरण बन कर जग को
सच्चा मानव रूप दिखाऊँ
जीवन जीना क्या होता है
खुद में जी कर ही दिखलाऊँ

नया अर्थ दूँ जन-जीवन को
नई व्याख्या करूँ धर्म की
भाग्यवाद को कर निरस्त फिर
नव-परिभाषा रचूं कर्म की

उचित साधना के द्वारा ही
यह नव साधा जा सकता है
अपने जीवन का परिवर्तन
जग-परिवर्तन ला सकता है"

गृह त्याग का निश्चय उनका
होता गया दृढ़ से दृढ़तर
चाचा को यह सूचित करने
गये महल में सन्मति सत्वर

वर्धमान को देख सुपार्श्व
हर्षित होकर बोले—"आओ
कहो यशोदा के बारे में
अपनी कुशल-क्षेम बतलाओ'

'चुल्लपिता, है कृपा आप की
वह भी खुश है, मैं भी हर्षित
मैंने किया एक है निश्चय
आज्ञा हो तो कर दूं सूचित'

'क्या निश्चय है, बोलो बोलो
जो भी है वह कह दो निर्भय
यदि सहायता चाहो मेरी
वह भी तुम को दूंगा निश्चय'

'अमित स्नेह का आभारी हूं
धन्य समझता हूं मैं निज को
पिता तुल्य हैं, भाल लगाता
सदा आपकी हूं पद रज को

चुल्ल पिता, जो कहना है वह
वर्षों के चिन्तन का फल है
और आज का निश्चय मेरा
बिलकुल अन्तिम और अटल है

परिजन भी सहयोग करेंगे—
इस निश्चय, में, यही सोच कर
घोषित करता हूं निज निश्चय
बिना विलम्ब किये मैं पल भर

गृह त्याग की अनुमति दे दें
मुझको होना है सन्यासी
राजमहल में दम घुटता है
मैं तो हूंगा अब वनवासी'

'क्या कहते हो वर्धमान तुम
स्तब्ध सुपार्श्व बोले फौरन
भाभी-भाई स्वर्ग सिधारे
तुम चाहते सन्यासी जीवन

उनका ही दुःख इतना है जो
हम से वहन नहीं हो पाता
अब तुम भी घर त्याग रहे हो
यह तो सहन नहीं हो पाता'

'सच पूछो तो चुल्ल पिता मैं
निज घर त्यागे ही फिरता हूं
संन्यासी बन कर तो फिर मैं
घर की ओर सफर करता हूं

मेरा सदन, चेतना मेरी
उसी सदन में अब लौटूंगा
उस अनन्य दुनिया में जाकर
प्रश्नों के उत्तर खोजूंगा'

बोले चाचा—'बेटा, हम तो—
इच्छुक हैं सम्राट बनो तुम
मातृभूमि की सेवा करके
जग में बहुत विराट बनो तुम

शासन में कुछ त्रुटियां भी हैं
इसका भी आभास मुझे है
पर तुम उनको दूर करोगे
इसका भी विश्वास मुझे है'

बोले वर्धमान—'चाचा जी—
इस हिंसा औ' नश्वरता में
सम्भव नहीं कार्य कर पाना
मूल्यों की इस अस्थिरता में

दिशि-दिशि हाहाकार मचा है
शासन पतित, पतित हर प्राणी
दुहरा जीवन जीते हैं सब
मन में विष है, मृदु है वाणी

सत्ता की हठधर्मी से क्या
मानव का मन बदल सकेंगे
जब तक हृदय नहीं बदलेंगे
कैसे जीवन बदल सकेंगे

मन-परिवर्तन हेतु आज मैं
जन साधारण में जाऊँगा
अपना जीवन बदल उन्हें मैं
नवजीवन-पथ दिखलाऊँगा'

सुन कर वर्धमान की बातें
उत्तरहीन सुपार्श्व हो गये
जीवन की दुविधा के मग में
दिशाहीन से मार्ग खो गये

बोले—'बेटा कुछ दिन रुक कर
और सोच लो इस निश्चय पर
मैं भी कर लूं चर्चा तब तक
घर वालों से इस निर्णय पर

वर्धमान तब बोले—'चाचा
मेरा निश्चय अडिग-अटल है
निज संकल्प नहीं बदलेगा
मेरा मन है, नहीं चपल है'

जुड़ा कुटुम्ब सभी ने जाना
वर्धमान सन्यस्त हो रहे
चीत्कार बन गई खुशी भी
सुन निश्चय थे सभी रो रहे

वर्धमान ही आगे आये
सबको शांत किया, फिर बोले
विचलित होना मुझे न आता
कोई जितना मर्जी रो ले

सच है, मार्ग कठिन दुष्कर है
मैंने अंगीकार किया है
सत्य प्राप्त करने के हित ही
अग्नि-मार्ग स्वीकार किया है'

पृष्ठ भूमि दे वर्धमान ने
उनको सब बातें समझाईं
सुनी सभी ने लेकिन उनमें
कुछ ही के मन को ये भाईं

किन्तु विवश हो हर परिजन ने
अनुमति दे दी वर्धमान को
नए क्षितिज थे मिले उसी क्षण
उगते रवि में वर्तमान को

वैशाली ने सुनी बात यह
सुन-सुन कर फिर थी दुहराई
भोग योग की खातिर निकला
बात किसी की समझ न आई

राजपुरुष आश्चर्य चकित थे
यह क्या सूझी वर्धमान को
सुख-वैभव को त्याग रहा है—
ठुकरा कर इस शान-बान को

जनसाधारण खुश थे सुन कर
उनको अब कुछ त्राण मिलेगा
वर्धमान उनके संग होंगे
जीवन को नव प्राण मिलेगा

निश्चिततिथि[1] को निश्चित[2] वन में
वर्धमान सन्यस्त हो गये
बाह्य जगत का किया विसर्जन
अन्तर जग में व्यस्त हो गये

---

1. मगसिर सुदी 10, 569, ई. पू.
2. कुण्डलपुर के समीप षण्डवन

अष्टम सर्ग

•

साधना

•

वर्षा ऋतु में ओले गिरते
गिरता जब था धार-धार जल
किसी पेड़ के नीचे सन्मति
समाधिस्थ थे होते निश्चल

खाली हाथ चले जाते हैं
किसी वस्तु का काम नहीं है
अधोवस्त्र है केवल तन पर
आभूषण का नाम नहीं है

घर का सीमोल्लंघन उन का
स्वतंत्रता का प्रथम चरण था
सत्यान्वेषी वर्धमान थे
मुक्त धरा थी, मुक्त गगन था

हरिकेशी चाण्डाल मिला तो
बढ़ कर उसको गले लगाया
निज कुलीनता-अहंकार का
अपने मन से भाव मिटाया

फिर कर्मार ग्राम के निर्जन-
वन में जा कर ध्यान लगाया
जगी चेतना जिस को था
ऊँचे सोपानों तक पहुंचाया

ध्यान-मग्न थे इतने गहरे
अग-जग का आभास नही था
शून्य देश में विचर रहे थे
कोई उनके पास नही था

एक ग्वाल आ कर यों बोला—
उन को खड़ा देख कर खाली
"घर तक हो आऊँ मैं मुनि जी
करना बैलों की रखवाली"

मुनि जी करते क्या रखवाली
वह तो थे ही नहीं वहां पर
बैलों को मिल गया सुअवसर
जा पहुंचे जंगल के भीतर

आया मालिक पूछा उस ने—
मुनि जी मेरे बैल कहां हैं ?
क्या उत्तर दें, शब्द न पहुंचें
वह तो पहुंचे हुए वहां हैं

ग्वाला वन में दूर-दूर तक
भटका बैलों की तलाश में
खाली हाथ किन्तु वह लौटा
लिये थकन ही साँस साँस में

रजनी ने आ जगती तल को
निज अंचल में ढाँप लिया था
ग्वाले ने तब खोज-कार्य को
अगले दिन पर छोड़ दिया था

कलियाँ विकसीं पंछी चहके
भोर हुई छा गया उजाला
अपने बैलों की चिन्ता में
घर से निकला फिर से ग्वाला

जंगल में आ देखा उसने
मुनि के बिलकुल आस पास हैं—
उस के सारे बैल, खुशी से
चरते जाते हरी घास हैं

उस ने सोचा—यह मुनि मेरे
पशु हथियाने का इच्छुक है
कितना लोभी औ' कपटी है
पर-धन पाने का इच्छुक है

मेरे पीछे इस ने सारे
बैलों को कल छिपा दिया था
कहीं न इस का भेद खुले, यह—
इसी लिये तब मौन रहा था

गुस्से में भर कर वह ग्वाला
दौड़ा रस्सा ले उस ओर
इसी समय पर दिया सुनाई
घोड़ों की टापों का शोर

देख दृश्य हैरान रह गये
नन्दीवर्धन थे उस रथ में
बहुत विकट संन्यासी-जीवन
कितने संकट हैं इस पथ में

वर्धमान ने खोली आँखें
बोले उन से नन्दी वर्धन—
ऐसी घटना फिर घट सकती
निर्जन वन है, अनजाने जन

'भंते, यदि दें अनुमति मुझ को
कर दूं साथ सुरक्षा-सैनिक
हर संकट में साथ रहेंगे
आने देंगे आपद न तनिक'

वर्धमान ने कहा—भ्रात मैं
स्वतंत्रता का हूं आराधक
आत्म-भरोसे बढ़ता हूं मैं
मुझे चाहियें नहीं सहायक

कह कर चले वहां से, पहुंचे
स्वर्ण वालुका नदी किनारे
तन पर केवल दूष्य वस्त्र था
शेष अंग थे सभी उघारे

चलते चलते दूष्य वस्त्र भी
एक दिवस झाड़ी में अटका
शुद्ध रूप हो गये दिगम्बर
खा कर वह हलका सा झटका

अस्थि ग्राम में पहुचे सन्मति
बाहर ठहरे यक्षायतन में
ग्रामीणों ने मना किया था
यक्ष-वास था उस निर्जन में

लेकिन वर्धमान थे निर्भय
वह उसी जगह ध्यानस्थ हुए
निज अन्तर में गहरे जा कर
चैतन्य - रूप - निकटस्थ हुए

आया यक्ष रात को, देखा—
ध्यान लीन यह कौन खड़ा है
सुन्दर तन है, आँख बन्द हैं
बिल्कुल निश्चल मौन खड़ा है

यक्ष जोर से हुंकारा तब—
'बोल कौन है, क्यों आया है
लगता स्वयं काल ही तेरा
आज यहाँ तुझ को लाया है

लेकिन उत्तर नहीं मिला कुछ
यक्ष-शब्द ही रहे गूंजते
उसको खुद पर गर्व बहुत था
भीरू-लोग थे उसे पूजते

अधिक जोर से चिल्लाया फिर
वर्धमान पर शांत खड़े थे
वह अविचल वह महाकाय तो
लगते बिल्कुल चित्र-जड़े थे

यक्ष क्रुद्ध हो आया उन पर
देने लगा उन्हें वह पीड़ा
लेकिन उस के उस पीड़न को
वर्धमान ने समझा क्रीड़ा

यक्ष रात-भर यों ही उन को
नव-नव विधि से रहा सताता
पर वह वर्धमान को हर पल
गिरि सम अडिग खड़ा ही पाता

हुआ यक्ष तब अति ही लज्जित
देख अडिगता औ' निर्भयता
हुआ द्रवित औ' विचलित-मन वह
देख 'वीर' के मन की समता

जोड़े हाथ, गिरा चरणों में
पश्चात्ताप लगा वह करने
'क्षमा करो हे स्वामी मुझ को'
यह कह कर वह लगा सिसकने

अभय दान दे उस को सन्मति
बढ़े पंथ पर आगे-आगे
करते चलते मोह विसर्जन
समाधिस्थ भी जागे-जागे

वाचाला की ओर बढ़े वह—
जिस पथ से, वह नहीं निरापद
महाभयंकर सर्प वहां था
जिस से डरता पूरा जनपद

चंडकौशिक कहते थे उस को
दृष्टि भरी थी विष से जिस की
जो मिलता, निज दृष्टि डाल वह
देह भस्म कर देता उस की

वर्धमान थे पुलकित मन में
अग्नि-परीक्षा-अवसर पा कर
निज निर्भयता औ' मैत्री को
कसना था खरी कसौटी पर

यही सोच ध्यानस्थ हुए वह
टिका नयन निज नासिकाग्र पर—
उस देवालय के मण्डप में
जहाँ रहा करता वह विषधर

श्वास मन्द है शिथिल देह है
निर्विचार है अब उनका मन
शीत-ताप से द्वन्द्व मुक्त हो
सुप्त हुआ दैहिक संवेदन

विषधर आया देवालय में
देख मनुज को चकित हो गया
देख धृष्टता ऐसी, वह तो
उस क्षण अति ही कुपित हो गया

तभी उठा फण उसका ऊपर
था आंखों में विष भर आया
क्रुद्ध दृष्टि थी वर्धमान पर
फुंकारों से वन गुंजाया

हुआ अचम्भा पर विषधर को
वर्धमान को खड़ा देख कर
मर जाते थे जीव-जन्तु सब
उस के पहले दृष्टिपात पर

तब आ पग का डंसा अंगूठा
फिर उनका पग फिर उनका गल
ध्यान-शक्ति के कारण पर वह—
विष, निर्विष हो गया उसी पल

यत्न हुए जब सारे निष्फल
खिन्न सर्प आ बैठा सम्मुख
ध्यान पूर्ण कर वर्धमान ने
देखा उसको अति लज्जित-मुख

करुणामय ने क्षुब्ध सर्प को
मित्र भाव से देखा जिस पल
घुला दृष्टि-विष उसका सारा
महा भयंकर वह हुआ सरल

इसी भांति वह दीप्त-चेतना—
लिये, घूमते सुनसानों में
वस्त्रहीन, आहार-नीर हित
आते जब-जब सीवानों में—

लोग सताते भांति-भांति से
'वापिस जाओ'- कोई कहता
श्वान छोड़ता कोई उन पर
कोई हड्डी धूल फेंकता

कितने ही दे जाते धक्का
कितने गाली ही दे देते
थूक दिया करते कितने ही
कितने ही मुक्के कस लेते

लेकिन वह निर्वैर भाव से
सब कुछ सहते ही जाते थे
दुर्जन से दुर्जन भी उनसे
शुभाशीष ही नित पाते थे

उनको था यह ज्ञात कि जब तक
नहीं करेंगे पूर्ण विसर्जन
जग-मंगल औ' विश्व-प्रेम से
नहीं जुड़ेगा उनका जीवन

इसी लिये वह सब कष्टों को
हर्ष भाव से झेल रहे थे
कठिन तपों की ज्वाला को वह
हो आनन्दित झेल रहे थे

ग्रीष्म काल की शिखर दुपहरी
अम्बर जब था आग उगलता
आग तपी पाषाण-शिला पर
वर्धमान का आसन लगता

दीर्घकाल तक अविचल मन से
ध्यानमग्न वह रहते उस पर
होती जाती गहन साधना
नित्य गहन से परम गहनतर

वर्षा ऋतु में ओले गिरते
गिरता था जब धार-धार जल
किसी पेड़ के नीचे सन्मति
समाधिस्थ थे होते निश्चल

ताल, तलैया, कुएं बावड़ी
जल से ऊपर तक भर जाते
मक्खी, मच्छर आदि कीट थे
अगणित संख्या में भिन्नाते

देह-अनावृत्त सन्मति तब भी
संयम साध रहे होते थे
कीट काटते रहते पर वह
नहीं संतुलन को खोते थे

भीषण जाड़ा जब आता था
भीषण शीत हवाएँ चलतीं
प्राणी इधर-उधर छिप जाते
जीवन की गतिविधियां रुकती

वर्धमान तब नदी किनारे
या पर्वत-घाटी में जाकर
खो जाते थे महाशून्य में
अपने मन की संज्ञा पाकर

अनासक्त हो गए पूर्ण वह
भोजन तक भी छोड़ दिया था
भोजन तो भोजन है, जल भी
कई मास तक नहीं पिया था

नित्य साधना इसी भांति से
होती गई दृढ़ से दृढ़तर
उनका चिन्तन हुआ अलौकिक
व्यापक नभ से भी व्यापकतर

वह तपाग्नि में तप-तप कर नित
कुन्दन के सम दमक रहे थे
दिव्य भावमय उनके लोचन—
अपलक नभ से चमक रहे थे

साढ़े बारह वर्ष चली यह
कठिन साधना निशि-दिन उन की
चरम बिन्दु पर पहुँच रही थी
यही साधना अब जीवन की

जंभिय ग्राम बसा था पावन—
ऋजुबालिका नदी के तट पर
वैशाख शुक्ल दशमी के दिन
समाधिस्थ थे वहां वीर वर

काट रही थी सघन तिमिर को
वर्धमान की गहन साधना
छोड़ गया अज्ञान उन्हें था
छोड़ गई थी मोह-भावना

उस पल लगा उन्हें मानो यह
मलिन आवरण छूट गया है
जिस बन्धन में बंधा हुआ था
अब वह बन्धन टूट गया है

हुए 'केवली' महावीर अब
अमित प्रकाश हुआ अन्तर में
शुद्ध ज्ञान पाने का उनको
दृढ़ विश्वास हुआ अन्तर में

उत्तर सभी समस्याओं के
सहज रूप में हुए उपस्थित
सूत्र लगे वे हाथ कि जिन से
हो जायेगा जगत व्यवस्थित

कोई इच्छा शेष नहीं अब
नहीं शेष जिज्ञासा कोई
भीतर-बाहर सहज हुआ है
बाकी नहीं पिपासा कोई

शांत-सिन्धु से निस्पन्द हुए
विघ्न-ज्वार हो गया विलीन
महा शांत हैं, परम शांत हैं
मानस तुमुल कोलाहल हीन

नवम सर्ग

●

साधना-सुधा

●

जग में है भगवती अहिंसा
ओज यही है, शक्ति यही है
करुणा का है स्रोत अहिंसा
धर्म यही है भक्ति यही है

महावीर कैवल्य प्राप्त कर
जग की ओर चले आये है
जन-जन विष-विमुक्त हो ऐसी
सुधा साधना की लाये हैं

प्रथम क्रिया उद्घोष की मानव
तू जीवों में श्रेष्ठ जीव है
शक्ति पुञ्ज है, चिन्तन युत है
तेरी मेधा भी अतीव है

स्वयं सभी कर्मों का कर्त्ता
स्वयं मीत - अरि तू अपना है
बन्धन मुक्त स्वयं हो सकता
किसी देव को क्या जपना है

हाहाकार मचा जीवन में
फैली चारों ओर विषमता
मानव, इसके कुछ कारण हैं
उन्हें हटा तू, आए समता

मैं कहता अनुभूत सत्य हूं
यदि तू करे इसे हृदयंगम
अगर चले तू सत्य मार्ग पर
मिट जायेगा आतप का तम

सभी जीव जीने के इच्छुक
मरना नहीं किसी को भाता
सभी चाहते सुख जीवन में
दुख को कौन भला अपनाता

निज सम समझ सभी को प्राणी
नहीं किसी को दुख पहुँचाओ
हिंसा के कर्मों को त्यागो
सब जीवों को सुख पहुँचाओ

हिंसा कर्म नहीं वीरोचित
भय ग्रन्थि है कायर मन की
मृत्यु तुल्य है, नर्क तुल्य है
दुर्बलता है यह जीवन की

होता हिंसा में प्रवृत्त जो
निज मन से या कर्म-वचन से
बोता है वह बीज वैर के
कांटे पाता वही चमन से

जग में है भगवती अहिंसा
ओज यही है, शक्ति यही है
करुणा का है स्रोत अहिंसा
धर्म यही है, भक्ति यही है

घृणा इसी से मिट सकती है
प्रेम-लोक का द्वार यही है
शांति-सुधा का यह उद्गम है
सब धर्मों का सार यही है

सार्वभौम है सत्य अहिंसा
मन का संयम-अनुशासन है
सर्वोत्तम है गुण मानव का
वीरों का यह आभूषण है

रक्तपात रुक सकता इस से
रुक सकता जीवों का वध है
विश्वविकलता - शमन हेतु तो
रामबाण ही यह औषध है

परिग्रह भी है मानव-वैरी
हिंसा ही सा घृणित कर्म है
ईर्ष्या - पावक को भड़काना
इस का ही अति पतित कर्म है

जिस ने सब को बांध लिया है
यह बन्धन है ऐसा बन्धन
यदि हो दृढ़ निश्चय तो इस से
मानव का हो सकता मोचन

आवश्यक से अधिक करे जो
किसी वस्तु का जग में संग्रह
अन्य जनो को पीड़ा देता
फैलाता वह घृणा इस तरह

धन को मान लिया है जीवन
फैल गई दूषितता इस से
धन हित करते पाप-कर्म हैं
लुप्त हुई पावनता इस से

मानव है मानव के सम्मुख
थामे हाथों में तलवारें
कत्ल हो रहे, रक्त बह रहा
कँपती चीखों से दीवारें

हरण किया जाता नारी का
बच्चों को है बेचा जाता
धन की खातिर मानव को है—
मानव फांसी पर लटकाता

खाद्य वस्तु हो या औषधि हो
सब में घातक वस्तु मिलाते
नीर - वायु तक शुद्ध नहीं है
विष ही पीते विष ही खाते

सोना - चांदी पा कर भी क्या
मिटी मनुज की है अभिलाषा
हीरे - मोती पा कर भी तो
बढ़ती उस में अधिक पिपासा

यह इच्छा तो सागर - सम है
जिस की तृप्ति नहीं हो पाती
यद्यपि अनगिन नदियां निशि-दिन
इस में मिल-मिल कर खो जातीं

वैभव कुबेर का पा कर भी
इच्छा संतुष्ट नहीं होती
कितना डालो ईंधन इस में
यह पावक तुष्ट नहीं होती

सारे वैभव को पा कर भी
मानव नहीं अमर हो सकता
व्याकुलता में जीता निशि - दिन
व्याकुलता ही में है मरता

अपरिग्रह का पालन करके
हर पल को हम महका सकते
साम्य भाव से रहकर ही हम
हर दुखिया-मन चहका सकते

हठधर्मी होना भी अवगुण
इस से भी बेचैनी बढ़ती
अपने को ही सही मानना
इससे सहज - सरसता घटती

वस्तु एक है लेकिन उस के
कोण अनेकों हो सकते हैं
कैसे कहूँ, सिर्फ हैं उतने
जितने कोण हमें दिखते हैं

यही जगत है अपने सम्मुख
नित्य बना भी यह अनित्य है
जो दिखता है वह भी सच है
सच है वह भी जो अदृश्य है

दही नहीं है दूध सत्य है
मक्खन भी तो नहीं दही है
क्यों रूपान्तर पर हठ ठानें
गोरस कह दें यही सही है

स्वर्ण, कंगन भी, स्वर्ण मुकुट भी
कंगन नहीं भी मुकुट नहीं भी
स्वर्ण एक है रूप अनेकों
तुम भी सच हो, सच है वह भी

सुमन नहीं है मात्र सुमन ही
रूप, गन्ध, रस, सुसमा भी है
कोमलता भी, रंगीनी भी
शीतलता भी, ऊष्मा भी है

वही सही जो देखा तुम ने
हठधर्मी जो ऐसा कहता
यही दुराग्रह, जिसके कारण
मानव - मन है दुखिया रहता

सहिष्णुता खो जाती हठ से
इस से मन कठोर हो जाते
लग जाते हम दुश्चिन्तन में
हर मानव को दुश्मन पाते

शत्रु भाव के आते ही हम
व्यंग्य-वचन कहने लग जाते
दुराग्रही बन, मधुरिम जग में
विष-प्रवाह करने लग जाते

सच पूछो तो यही दुराग्रह
हिंसा का है रूप भयंकर
युद्धों का भी जनक यही है
जिन में अनगिन जन जाते मर

बौद्धिक हिंसा होती इस से
यह अन्तर को करता घायल
हठधर्मी का अपना मन भी
बेचैनी में रहता हर पल

धर्म क्षेत्र में इसी दुराग्रह—
ने विभिन्न मठ-मन्दिर खोले
दृष्टि-भेद के कारण ही तो
बने पंथ औ' इतने टोले

अज्ञानी है कितने हम जो
लड़ते दीवारों की खातिर
थोथे पंथ लिये फिरते है
शुद्ध चिरन्तन सत्य भूल कर

इसी भांति से महावीर नित
नगर-ग्राम में फिरते रहते
जन भाषा में, सभी जनों को
उद्बोधन वे करते रहते

राजा-रंक सभी आते थे
सुनते उन की कोमल वाणी
उन के वचन सभी को भाते
होते थे वे जन-कल्याणी

उन के वचनों के कारण ही
बदल गये मन राजाओं के
जन हित-कार्य लगे वे करने
बदल गये दिन दुखियाओं के

युद्धों में भी कमी हो गई
जिस से जीवन सरस हो गया
सुख-समृद्धि बढ़ी लोगों की
सब अभाव था कहीं खो गया

यज्ञों में पशु बलि देना भी
बहुत अधिक अब नहीं रहा था
कर्म काण्ड भी कम होते थे
पाखण्डों का असर घटा था

धर्म सभी के लिए हो गया
कुछ वर्गों का नहीं रहा था
तथा कथित जो धर्मगुरु थे
अब उन का युग बीत गया था

जनसाधारण थे आभारी
एक नया युग जग में आया
महावीर की अनुकम्पा थी
जिस ने उनका कलुष मिटाया



दशम सर्ग

•

महापरिनिर्वाण

•

वह दिनकर जो वर्षों से था
जन-मानस आलोकित करता
चला गया उस पार क्षितिज के
हुई उसे थी प्राप्त अमरता

तीस वर्ष तक महावीर ने
किया निरन्तर धर्म-विकास
'पावानगर' पधारे थे वह
'राजगृही' में कर आवास

राजा और प्रजा ने मिल कर
किया स्वागत उन का भारी
धर्म-सार सुनने को पहुंची
आस पास की जनता सारी

सत्तर से दो ऊपर ही थी
महावीर की आयु इस समय
देह-कांती पर यौवन वाली
वही दृढ़ मन, वही मृदु हृदय

आ पहुंचा निर्वाण-काल जब
उन को था सब ज्ञात हो गया
उन लोगों के सम्मुख उस दिन
अपना अन्तिम प्रवचन किया

दो दिन से थे उपवासी पर
अनथक बोले दो दिन-रात
पाप-पुण्य का किया विवेचन
खुलकर कह दी सारी बात

चार घड़ी थी शेष रात तब
ज्योति पुंज जब लुप्त हुआ
महावीर थे प्रवचन तन्मय
जब उनका निर्वाण हुआ

वह दिन जो वर्षों से था
जन-मानस आलोकित करता
चला गया उस पार क्षितिज के
हुई उसे थी प्राप्त अमरता

जगमग थी कार्तिकी अमावस
गण राज्यों ने दीप जलाये
सभी दिशाएँ चहक उठी थीं
सारे प्राणी थे हर्षाए

महावीर अब इस धरती पर
नहीं मिलेंगे हमें दुबारा
पूर्ण जिये औ' पूर्ण मरे वह
छोड़ गये सब सुख की धारा

यह धारा भी अमर रहेगी
प्राणी-जग के दुःख को हरती
इस धारा से दुख भागेंगे
सुखमय होगी सारी धरती

दिया हमें अमृत है तुम ने
आभारी हैं वर्धमान हम
जीवन को दीं नई दिशाएँ
नतमस्तक हैं प्राणवान हम

